अग्निपुराण में अष्टाङ्ग योग

डा. कृष्णकान्त शर्मा

योगदर्शनप्रणेता महर्षि पतञ्जलि ने "यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि"[1] सूत्र के द्वारा योग के जिन आठ अङ्गों का उल्लेख किया है उनका साङ्गोपाङ्ग वर्णन **अग्निपुराण** में भी उपलब्ध है। **अग्निपुराण** में वर्णित योगलक्षणा पर सामान्य रूप से विचार करना यहाँ अप्रासंगिक नहीं होगा।

योग-लक्षण

अग्निपुराण में योग का लक्षण बताते हुए कहा गया है—

वृत्तिहीनं मनः कृत्वा क्षेत्रज्ञो परमात्मनि ।
एकीकृत्य विमुच्येत बन्धाद्योगोऽयमुत्तमः ॥[2]

अर्थात् चित्त को वृत्तिशून्य करके क्षेत्रज्ञ (आत्मा) एवं परमात्मा में उसका एकीकरण उत्तम योग है, जिसके द्वारा बन्धन से मुक्ति मिलती है। **अग्निपुराण** के अनुसार वह ज्ञान योग है जो ब्रह्म का प्रकाशक है—जहाँ चित्त ब्रह्माकाराकारित होता है— "ब्रह्मप्रकाशकं ज्ञानं योगस्तत्रैकचित्तता।"[3] महर्षि पतञ्जलि ने चित्तवृत्तियों के निरोध को योग कहा है—"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।"[4] इसकी व्याख्या करते हुए आचार्य विज्ञानभिक्षु ने कहा है कि चित्तवृत्तिनिरोधमात्र योग नहीं है अपितु वह चित्तवृत्तिनिरोध योग है जो द्रष्टा (पुरुष = आत्मा) के अपने स्वरूप में अवस्थान के प्रति कारण हो—"तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानमिति वक्ष्यमाणसूत्रसाहित्येनैवास्य लक्षणत्वात्... द्रष्टृस्वरूपावस्थिति-हेतुश्चित्तवृत्तिनिरोधः (योगः)"[5]। **अग्निपुराण** में भी योग का यह लक्षण उपलब्ध है—"चित्तवृत्तिनिरोधश्च जीवब्रह्मात्मनोः परः।"[6]

अब हम **अग्निपुराण** में उपलब्ध यमादि अष्टाङ्ग योग पर क्रमशः विचार करते हैं।

1. यम

महर्षि पतञ्जलि ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँच को यम कहा है "अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रह यमाः"[7]। **अग्निपुराण** में भी इन पाँच को यम कहा गया है—

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रहौ ॥
यमाः पञ्च स्मृताः .... ।[8]

(i) अहिंसा

अहिंसा की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए **अग्निपुराण** में कहा गया है कि प्राणियों को पीड़ा न पहुँचाना ही अहिंसा है। अहिंसा उत्तम धर्म है। जिस प्रकार हाथी के पैर में अन्य पथिकों के पैर समा जाते हैं, ठीक उसी प्रकार अहिंसा में ही समस्त धर्म, अर्थ समाविष्ट होते हैं—

भूतापीडा ह्यहिंसा स्यादहिंसा धर्म उत्तमः ।
यथा गजपदेऽन्यानि पदानि पथगामिनाम् ॥
एवं सर्वमहिंसायां धर्मार्थमभिधीयते ।[9]

योगभाष्यकार व्यास ने भी सभी यम और नियमों को अहिंसामूलक माना है—"उत्तरे च

यमनियमास्तन्मूलास्तत्सिद्धि-परतयैव तत्प्रतिपादनाय प्रतिपाद्यन्ते।''[10] अहिंसा के सन्दर्भ में यही बात मोक्षधर्म में भी कही गई है—

''यथा नागपदेऽन्यानि पदानि पदगामिनाम् ।
सर्वाण्येवापिधीयन्ते पदजातानि कौञ्जरे ॥
एवं सर्वमहिंसायां धर्मार्थमपि धीयते ।''

अग्निपुराण में अहिंसा को स्पष्ट करने के लिए दस प्रकार की हिंसा बताई गई है। तदनुसार 1. उद्वेग उत्पन्न करना, 2. सन्ताप देना, 3. रोग उत्पन्न करना, 4. रक्तपात करना, 5. पिशुनता, 6. अहित करना, 7. मर्माहत करना, 8. सुख छीनना, 9. रुकावट डालना तथा 10. वध करना ये दस हिंसा है। इनमें से किसी भी प्रकार से दूसरे को पीड़ित न करना ही अहिंसा है—

उद्वेगजननं हिंसा सन्तापकरणं तथा ।
रुक्कृतिः शोणितकृतिः पैशुन्यकरणं तथा ॥
हितस्यातिनिषेधश्च मर्मोद्घाटनमेव च ।
सुखापह्नुतिः संरोधो वधो दशविधा च सा ॥[11]

(ii) सत्य

अग्निपुराण ने उसी वचन को सत्य कहा है, जो प्राणी के प्रति अत्यन्त हितकर हो—

यद्भूतहितमत्यन्तं वचः सत्यस्य लक्षणम् ।[12]

प्राणी के हिताहित का ध्यान रख कर ही यह भी कहा गया है—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।
प्रियञ्च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥[13]

इसी आशय को योगभाष्यकार व्यास ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—''एषा सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता न भूतोपघाताय।... तस्मात् परीक्ष्य सर्वभूतहितं सत्यं ब्रूयात्।''[14]

(iii) अस्तेय

बलपूर्वक परद्रव्य का अपहरण स्तेय है। इससे तिर्यग् योनि प्राप्त होती है—

यद्वा तद्वा परद्रव्यमपहृत्य बलान्नरः ॥
अवश्यं याति तिर्य्यक्त्वं जग्ध्वा चैवाहुतं हविः ॥[15]

परद्रव्य का अपहरण करना, यहाँ तक कि परद्रव्य के प्रति स्पृहा का भी न होना ही अस्तेय है।

(iv) ब्रह्मचर्य

स्मरण, कीर्त्तन, केलि, प्रेक्षण, गुह्यभाषण, सङ्कल्प, अध्यवसाय तथा क्रियानिवृत्ति ये आठ प्रकार के मैथुन बताये गये हैं। इनका परित्याग ही ब्रह्मचर्य है।

मैथुनस्य परित्यागो ब्रह्मचर्य तदष्टधा ।
स्मरणं कीर्त्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् ॥
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृतिरेव च ।
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥[16]

ब्रह्मचर्य के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए **अग्निपुराण** में कहा गया है कि ब्रह्मचर्य समस्त क्रियाओं का मूल है। इसके बिना सारी क्रियायें विफल होती हैं। गौडी, पैष्ठी और माध्वी इन तीन प्रकार की सुरा के अतिरिक्त स्त्री को **अग्निपुराण** ने चौथी सुरा कहा है, जिसने सम्पूर्ण जगत् को मोहित कर रखा है। यहाँ तक कि वसिष्ठ, चन्द्रमा, शुक्राचार्य, पितामह ब्रह्मा प्रभृति तपोवृद्ध एवं वयोवृद्ध लोग भी स्त्री के द्वारा मोहित हुए। अत: अष्टविध मैथुन से विरत रह कर ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये।

ब्रह्मचर्य क्रियामूलमन्यथा विफला: क्रिया: ।
वसिष्ठश्चन्द्रमा: शुक्रो देवाचार्य्य: पितामह: ॥
तपोवृद्धा वयोवृद्धास्तेऽपि स्त्रीभिर्विमोहिता: ।
गौडी पैष्ठी च माध्वी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा ॥
चतुर्थी स्त्रीसुरा ज्ञेया ययेदं मोहितं जगत् ।
माद्यति प्रमदां दृष्ट्वा सुरां पीत्वा तु माद्यति ॥
यस्माद्दमदा नारी तस्मात्तां नावलोकयेत् ।[17]

(v) अपरिग्रह

आच्छादनहेतु कौपीन, शीतनिवारणहेतु कन्था एवं पादुका के अतिरिक्त अन्य का संग्रह न करना अपरिग्रह है। शरीर धर्मसाधन है। अत: उसकी रक्षा के लिए जितने वस्त्र आदि की अपेक्षा हो, उसके अतिरिक्त का संग्रह न करना ही अपरिग्रह है—

कौपीनाच्छादनं वास: कन्थां शीतनिवारिणीम् ॥
पादुके चापि गृह्णीयात्कुर्यान्नान्यस्य संग्रहम् ।
देहस्थितिनिमित्तस्य वस्त्रादि स्यात्परिग्रह: ॥
शरीरं धर्मसंयुक्तं रक्षणीयं प्रयत्नत: ।[18]

2. नियम

शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरपूजा ये नियम हैं—

.....अथ नियमा: शौचं सन्तोषणं तप: ।
स्वाध्यायेश्वरपूजा च..... ॥[19]

(i) शौच

शुचे: = पवित्रताया: भाव: शौचम् । यह पवित्रता दो प्रकार की होती है—(1) बाह्य एवं (2) आभ्यन्तर। मिट्टी और जल इत्यादि के द्वारा होने वाली शुचिता बाह्य है और भावशुद्धि अर्थात् अन्त:करण की शुद्धि आभ्यन्तर शौच है। जैसा कि **अग्निपुराण** में कहा गया है—

शौचन्तु द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरं तथा ।
मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं भावशुद्धैरथान्तरम् ॥
उभयेन शुचिर्यस्तु स शुचिर्नेतर शुचि: ।[20]

अग्निपुराण के अनुसार बाह्य एवं आभ्यन्तर दोनों प्रकार की शुचिता जिसमें हो, वही वस्तुत: शुचि = पवित्र है।

(ii) सन्तोष

यथा कथञ्चित् प्राप्त वस्तु से ही तुष्ट होना सन्तोष है—

यथाकथञ्चित्प्राप्त्या च सन्तोषस्तुष्टिरुच्यते[21]

योगभाष्यकार ने भी विद्यमान साधनों से अधिक साधनों का संग्रह करने की अनिच्छा को संतोष कहा है—"संतोषः संनिहितसाधनादधिकस्यानुपादित्सा।"[22] इसी आशय को ईश्वरगीता ने भी इस प्रकार व्यक्त किया है—

"यदृच्छालाभतो नित्यमलं पुंसो भवेदिति ।
तां निष्ठाम् ऋषयः प्राहुः सन्तोषं सुखलक्षणम् ॥"

(iii) तप

अग्निपुराण में मन और इन्द्रिय की एकाग्रता को तप कहा गया है—

मनसश्चेन्द्रियाणाञ्च ऐकाग्र्यं तप उच्यते ।[23]

योगभाष्यकार ने द्वन्द्वसहिष्णुता को तप कहा है "तपो द्वन्द्वसहनम्।"[24] यह द्वन्द्वसहिष्णुता भी मन और इन्द्रिय की एकाग्रता की स्थिति में ही सम्भव है। **अग्निपुराण** में वाचिक, मानस और शारीर—इस प्रकार तीन प्रकार के तपों का वर्णन किया है। मन्त्र जप आदि वाचिक तप है। आसक्ति रहित होना मानस तप है और देवपूजा शारीर तप है—

वाचिकं मन्त्रजप्यादि मानसं रागवर्जनम् ॥
शारीरं देवपूजादि सर्वदन्तु त्रिधा तपः ॥[25]

(iv) स्वाध्याय

अग्निपुराण में कहा गया है कि समस्त वेद प्रणव में स्थित है। समस्त वाङ्मय प्रणवरूप है। अतः प्रणव का अभ्यास करना चाहिये। यही स्वाध्याय है—

प्रणवाद्यस्ततो वेदाः प्रणवे पर्य्यवस्थिताः ।
वाङ्मयः प्रणवः सर्वं तस्मात् प्रणवमभ्यसेत् ॥
अकारश्च तथोकारो मकारश्चार्द्धमात्रया ॥
तिस्रो मात्रास्त्रयो वेदा लोका भूरादयो गुणाः ।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिश्च ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ॥[26]

जो प्रतिदिन 12 हजार प्रणवजप करता है उसे 12 मास में ब्रह्मसाक्षात्कार होता है। यह स्वाध्याय का महत्त्व है—

यस्तु द्वादशसाहस्रं जपमन्वहमाचरेत् ।
तस्य द्वादशभिर्मासैः परं ब्रह्म प्रकाशते ॥[27]

(v) ईश्वरपूजन (ईश्वरप्रणिधान)

हरि की अर्चना ईश्वरप्रणिधान है। जो दण्डवत् प्रणाम कर हरि की अर्चना करता है, वह जिस गति को प्राप्त करता है वह गति सैकड़ों योगों से सम्भव नहीं है। देवता एवं गुरु में जिसकी परा भक्ति होती है, उसके समस्त अर्थ प्रकाशित होते हैं—

प्रणम्य दण्डवद्भूमौ नमस्कारेण योऽर्चयेत् ।
स यां गतिमवाप्नोति न तां क्रतुशतैरपि ॥
यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥[28]

3. आसन

अग्निपुराण में कमलादि आसन में स्थित होकर परमेश्वर का चिन्तन करना चाहिये, ऐसा कहा गया है।

योगासन करने की विधि बताते हुए यह भी कहा गया है कि शुद्ध स्थान में अपने आसन को–जो न अति ऊँचा हो, न अति नीचा हो और जिस पर क्रमश: कुशा, मृगचर्म एवं वस्त्र बिछा हो, उस आसन पर बैठ कर योग का साधन करना चाहिये। मनको समस्त विषयों से हटा कर एकाग्र करके चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को जीतने वाला हो कर योग का साधन करना चाहिये। काया, शिर और ग्रीवा को सम और अचल भाव से धारण करके स्थिर होकर बैठना चाहिये तथा अपनी नासिका के अग्रभाग देखता हुआ अन्य दिशाओं को न देखता हुआ योगाभ्यास करना चाहिये।

आसनं कमलाद्युक्तं तद्बद्धा चिन्तयेत् परम् ।
शुचौ देशे प्रतिष्ठाय स्थिरमासनमात्मनः ॥
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ।
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ॥
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ।
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ॥
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥[29]

4. प्राणायाम

अपने शरीर में स्थित प्राण वायु का निरोध प्राणायाम है। एक नासिका के पुट को अङ्गुलि से दबा कर दूसरे नासिकाविवर से उदरस्थ वायु का रेचन रेचक प्राणायाम है। बाह्य वायु का पूरण पूरक प्राणायाम है तथा अन्त:स्थ एवं बाह्य वायु का त्याग एवं ग्रहण न करना साथ ही पूर्णकुम्भ की भाँति अचल रहना कुम्भक प्राणायाम है। इस प्रकार–रेचक, पूरक एवं कुम्भक–ये तीन प्रकार के प्राणायामों का वर्णन **अग्निपुराण** में किया गया है—

प्राणः स्वदेहजो वायुस्तस्यायामो निरोधनम् ॥
नासिकापुटमङ्गुल्या पीड्यैव च परेण च ।
औदरं रेचयेद् वायुं रेचनाद्रेचकः स्मृतः ॥
न मुञ्चति न गृह्णाति वायुमन्तर्बहिः स्थितम् ।
सम्पूर्णकुम्भवत् तिष्ठेदचलः स तु कुम्भकः ॥[30]

पुन: कनिष्ठ, मध्यम एवं उत्तम भेद से प्राणायाम तीन प्रकार के कहे गये हैं। द्वादश मात्रा एक उद्घात वाला प्राणायाम कनिष्ठ है, 24 मात्रा का दो उद्घातवाला प्राणायाम मध्यम तथा ३६ मात्रा का तीन उद्घातवाला प्राणायाम उत्तम प्राणायाम है। जिस प्राणायाम से स्वेद, कम्प आदि उत्पन्न हो वह प्राणायाम उत्तमोत्तम है—

कन्यकः सकृदुद्घातः स वै द्वादशमात्रिकः ।
मध्यमश्च द्विरुद्घातश्चतुर्विंशतिमात्रिकः ॥
उत्तमश्च त्रिरुद्घातः षट्त्रिंशत्तालमात्रिकः ।
स्वेदकम्पाभिघातानां जननश्चोत्तमोत्तमः ॥[31]

प्राणायाम के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए **अग्निपुराण** में कहा गया है कि आरोग्य, शीघ्रगामिता, उत्साह, स्वरसौष्ठव, बल, वर्णप्रसाद, समस्त दोषों का क्षय यह सब प्राणायाम का फल है। मन की एकाग्रता का प्राणायाम सबसे बड़ा साधन है।[32]

5. प्रत्याहार

विषयसमुद्र में प्रसक्त इन्द्रियों को विषय से हटा का उनका निग्रह करना ही प्रत्याहार है।

इन्द्रियाणि प्रसक्तानि प्रविश्य विषयोदधौ ।
आहृत्य यो निगृह्णाति प्रत्याहारः स उच्यते ॥[33]

महर्षि पतञ्जलि ने प्रत्याहार का स्वरूप इस प्रकार बताया है—अपने विषयों के साथ सन्निकर्ष न होने पर इन्द्रियों द्वारा चित्त के स्वरूप का अनुकरण सा कर लेना ही प्रत्याहार है—"स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः"[34] इस प्रकार चित्त के निरुद्ध होने पर इन्द्रियों का निरुद्ध होना प्रत्याहार है।

6. ध्यान

चिन्तार्थक ध्यै धातु से निष्पन्न ध्यान शब्द बार-बार विष्णुचिन्तन का बोधक है। अनाक्षिप्त मन से अर्थात् एकाग्र मन से पुनः पुनः विष्णु का चिन्तन ध्यान कहलाता है—

ध्यै चिन्तायां स्मृतो धातुर्विष्णुचिन्ता मुहुर्मुहुः ।
अनाक्षिप्तेन मनसा ध्यानमित्यभिधीयते ॥
आत्मनः समनस्कस्य मुक्ताशेषोपधस्य च ।
ब्रह्मचिन्ता समा शक्तिर्ध्यानं नाम तदुच्यते ॥[35]

महर्षि पतञ्जलि ने धारणा वाले विषय में ज्ञान की एकातानता अर्थात् अविच्छिन्न धारा को ध्यान कहा है—"तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्"[36]। **अग्निपुराण** में भी प्रत्ययैक भावना को ध्यान कहा गया है—

ध्येयालम्बनसंस्थस्य सदृशप्रत्ययस्य च ।
प्रत्ययान्तरनिर्मुक्तः प्रत्ययो ध्यानमुच्यते ॥
ध्येयावस्थितचित्तस्य प्रदेशे यत्र कुत्रचित् ।
ध्यानमेतत्समुद्दिष्टं प्रत्ययस्यैकभावना ॥[37]

ध्यान के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए **अग्निपुराण** में कहा गया है कि जो योगी ध्यानयुक्त हो कर अपने शरीर का त्याग करता है, वह अपने कुल, बन्धु-बान्धव सबका उद्धार कर स्वयं विष्णुस्वरूप हो जाता है। जो मुहूर्त्त अथवा अर्ध मुहूर्त्त भी श्रद्धापूर्वक हरि का ध्यान करता है, उसे जो गति प्राप्त होती है वह गति महान् यज्ञों से भी सम्भव नहीं है।[38] ध्यान में चूँकि यज्ञ आदि की भाँति हिंसादि अशुद्धि नहीं है, अतः ध्यानयज्ञ को श्रेष्ठ एवं अपवर्गफलप्रदायक कहा गया है।[39]

7. धारणा

ध्येय में मन की संस्थिति को धारणा कहा गया है—"धारणा मनसो ध्येये संस्थितिर्ध्यानवद्द्विधा।"[40] धारणा में मन कभी लक्ष्य से च्युत नहीं होता। यह धारणा पुनः आग्नेयी, वारुणी, ऐशानी एवं अमृतात्मिका भेद से चार प्रकार की होती है। पादाङ्गुष्ठ से कपाल पर्यन्त एक रश्मिमण्डल व्याप्त है। उसमें तिर्यक्, अधः और ऊर्ध्व भाग की ओर अग्नि की भाँति तेजो मण्डल का चिन्तन आग्नेयी धारणा है। समस्त विश्व हिम की धाराओं से परिपूर्ण है, इस प्रकार का चिन्तन वारुणी धारणा है। आकाश में ब्रह्ममय पद्म में विष्णु प्रसाद का चिन्तन ऐशानी धारणा है। विष्णुमन्त्र के द्वारा मातृमोदक के समान जप, होम, अर्चना आदि अमृता धारणा है।[41]

8. समाधि

जब शान्त समुद्र की भाँति स्थित आत्मा मात्र का भान हो, आत्मा के चैतन्य स्वरूप का ही ध्यान हो, उसे समाधि कहते हैं—

यदात्ममात्रं निर्भासं स्तिमितोदधिवत्स्थितम् ।
चैतन्यरूपवद्ध्यानं तत्समाधिरिहोच्यते ॥[42]

जब योगी ध्यान करते हुए निवातस्थ अग्नि की भाँति अचल, स्थिर रहे तो वह समाधिस्थ कहलाता है। उस अवस्था में वह न सुनता है, न घ्राण लेता है, न देखता है, न रसास्वादन करता है। उसे न स्पर्श का अनुभव होता है, न ही उसका मन सङ्कल्पादि करता है। वह काष्ठवत् स्थित होता है। इस प्रकार ईश्वर में लीन होता समाधिस्थ होना है।

न शृणोति न चाघ्राति न पश्यति न रस्यति ।
न च स्पर्शं विजानाति न सङ्कल्पयते मनः ॥
न चाभिमन्यते किञ्चिन्न च बुध्यति काष्ठवत् ।
एवमीश्वरसंलीनः समाधिस्थः स गीयते ॥[43]

पातञ्जलयोगसूत्र में समाधि का लक्षण इस प्रकार किया गया है—"तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।"[44] अर्थात् ध्यान ही जब ध्येय के स्वभाव का आवेश होने के कारण ध्येय के आकार में भासित तथा अपने ज्ञानात्मक रूप से रहित जैसा हो जाता है, उस समय उसे समाधि कहा जाता है। **अग्निपुराण** में भी आत्ममात्रनिर्भासं कह कर यही आशय व्यक्त किया गया है।

इस प्रकार **पातञ्जल योगदर्शन** एवं **अग्निपुराण** में वर्णित अष्टाङ्ग योग में पर्याप्त साम्य दृष्टिगत होता है।

सन्दर्भ

1. पातञ्जलयोगसूत्रम् 2/29
2. अग्निपुराण 165/13
3. " 372/1
4. पातञ्जलयोगसूत्रम् 1/2
5. योगवार्त्तिकम्, पा.यो.सू. 1/2
6. अग्निपुराण 372/2
7. पातञ्जलयोगसूत्रम् 2/30
8. अग्निपुराण 372/2-3
9. " 372/4-5
10. व्यासभाष्य, पा.यो.सू. 2/30
11. अग्निपुराण 372/5,6,7
12. " 372/7
13. " 372/8
14. व्यासभाष्य, पा.यो.सू. 2/30
15. अग्निपुराण 372/14-15
16. " 372/1-10
17. " 372/11-14
18. " 372/15-17
19. " 161/20
20. " 372/17-18
21. " 372/19
22. व्यासभाष्य, पा.यो.सू. 2/32
23. अग्निपुराण 372/19
24. व्यासभाष्य, पा.यो.सू. 2/32
25. अग्निपुराण 372/22-21
26. " 372/21-23
27. " 372/32-33
28. " 372/35-36
29. " 373/1-4
30. " 373/6-9
31. " 373/10-11
32. " 373/17, 18
33. " 373/20
34. पातञ्जलयोगसूत्रम् 2/54
35. अग्निपुराण 374/1-2
36. पातञ्जलयोगसूत्रम् 374/3-2
37. अग्निपुराण 374/3-4
38. " 374/5-6
39. " 374/14-15
40. " 374/1
41. " 374/7-22
42. " 374/1
43. " 374/3-4
44. पातञ्जलयोगसूत्रम् 3/3